THE TIMES OF INDIA

Date: 17-10-17

Strategies to create jobs in India

How to reap the dividend gifted by demography

Atul Raja and Kushal Prakash

When the number of cellphones sold in India touched the billion mark in 2013, India manufactured very few cellphones. Mindful of the growing mobile phone market in the country, the government increased the import tariff for mobiles in 2015 (making the import of finished mobile devices more expensive than producing it locally – an exercise known as correcting the inverted duty structure). The reform, along with a few structural changes, made India one of the fastest growing mobile manufacturing economies in the world with more than 42 plants set up in the last two years, generating direct and indirect employment for over four lakh people.By next year, the number of unemployed job-seeking individuals in India will reach 18 million. Promising interventions, like the one that spurred job creation in the mobile manufacturing industry, need to be adopted more widely. According to a FICCI 2016 report, there are opportunities to correct inverted duty structure in six other sectors: capital goods, cement, electronics and electricals, rubber products, minerals and textiles. Knowing what induces job creation, while keeping the macro reality of India in perspective, is a crucial step towards ameliorating the current situation.

Job creation is a consequence of two broad phenomena: creation of new enterprises and expansion of existing ones. Employment friendly policies like promoting investments, regulating international trade, making ecosystems conducive for businesses and managing labour markets, eventually lead to one of the above two phenomena. However, the theory has unique exceptions in the Indian context.Enterprise creation in India has not traditionally translated to creation of proportionate new jobs. More than 66% of non-farm enterprises in the country – a little over 30 million, most of them MSMEs – function without a single hired worker. The government's Startup India Policy, aimed at boosting enterprise creation while generating employment, is a step towards solving the problem. But the minuscule coverage of enterprises under the policy (2,865 as per the latest report) remains a potential hurdle.

Also, with 98% of total VC funding going to startups located in just six cities, the regional skew in the number of new jobs created is high, leaving the potential of an otherwise vast nation almost untapped. Nonetheless, with the vehement implementation of the Startup India Action Plan, it is not impractical to expect a redressal in the medium term.The inability of a large number of enterprises to grow and create jobs also indicates that enterprise expansion is non-aspirational in India. Research states that the lack of emphasis on innovation, coupled with byzantine regulations, are two prime reasons. Poor fund allocation

in R&D (less than 1% of India's annual budget, as compared to 3-5% by countries like the US and China) inhibits innovation, and hence prospects of job growth. A programme like the 'Small Business Innovation and Research' (which provides enterprises with competitive R&D grants), proposed in a Niti Aayog Expert Committee report, can be a game changer.

For larger firms that can afford to innovate and grow, a totally different kind of challenge limits their job creation potential. The unit cost of capital has fallen to less than 0.6 times the unit cost of labour – a 16x drop from the unit cost of labour in the early 1980s. Chasing higher productivity at a lesser cost is the prevailing industry norm and recent developments in automation and artificial intelligence pose a daunting impact on the job market.Apt policies aimed at tempering the impact of rapid technological buildout and striking a balance between productivity and labour employment need to be conceptualised. New age sectors like defence and aerospace, education and healthcare, and burgeoning green sectors like solar energy and wind, present another massive opportunity to identify 'upcoming jobs' and prepare talent accordingly. India's ambition to create more than one million new jobs in the green energy sector by 2022 is encouraging.Large-scale job creation is the government's most formidable challenge presently. Prudent strategies based on actual lay of the land will determine India's growth trajectory and pronounce the quality of life our citizens will lead once we grow old as a nation. Not reaping the dividends of demography is not an option. The time to act is now.

दैनिक भास्कर

Date: 17-10-17

बेहतर फैसले लेने में मददगार है थैलर का सिद्धांत

अर्थशास्त्र के नोबेल पुरस्कार विजेता ने बताया 'बाय वन,गेट वन फ्री' के पीछे का मनोविज्ञान

इस साल अर्थशास्त्र का नोबेल पुरस्कार शिकागो यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर रिचर्ड एच.थैलर को दिया गया है। इन्हें मनोविज्ञान से मिलने वाली अंतर्दृष्टि को उन मॉडल्स में विलय करने के लिए सराहना मिली है, जिन्हें अर्थशास्त्री व्यक्तिगत निर्णय प्रक्रिया के अध्ययन के लिए इस्तेमाल करते हैं। हालांकि, मुख्यधारा के अर्थशास्त्री व्यक्तिगत स्तर पर लिए जाने वाले निर्णयों का परीक्षण करने और अनुमान लगाने के लिए अत्याधुनिक मॉडलों का प्रयोग करते हैं पर ये मॉडल मानव के व्यवहार संबंधी कई प्रश्नों के उत्तर देने में नाकाम रहते हैं।जैसे क्यों भारत में कई राज्य सरकारें महीने की पहली तारीख को शराब बेचने नहीं देतीं? थैलर का सिद्धांत इस

फैसले की व्याख्या कर सकता है। पहली तारीख को वेतन मिलने के बाद खुद पर काबू न रखने वाले असयंमी लोग शराब की दुकान के बाहर कतार में लग आएंगे और कड़ी मेहनत की कमाई शराब में उड़ा देंगे व उनके परिवार परेशानी में पड़ जाएंगे। इसी तरह राजमार्गों पर शराब दुकानें बंद करने का सुप्रीम कोर्ट का फैसला शराब पीकर वाहन चलाने और दुर्घटनाएं घटाने में मददगार हो सकता है। दूसरे शब्दों में कई बार मानव को आत्म-विनाश के फैसले करने से रोकना पड़ता है।

आर्थिक मॉडल तर्कसंगत लोगों को ध्यान में रखकर चलता है। इन लोगों को यह बताने की जरूरत नहीं होती कि उनके लिए क्या सर्वोत्तम है। इसके विपरीत थैलर कहते हैं कि लोगों का खुद पर नियंत्रण नहीं होता और वे भोजन व मदिरा पान, धूम्रपान, सेवानिवृत्ति बाद के लिए बचत और अन्य दूर के लक्ष्यों के बारे में अतार्किक चयन कर लेते हैं। उनके मुताबिक संज्ञानात्मक सीमाएं और मानवीय कमजोरियों के कारण गलत फैसले ले लिए जाते हैं। यही 2008-09 में दुनिया में मंदी लाने वाले अमेरिकी सब-प्राइम संकट के पीछे का कारण था।किसी सुपरमार्केट में खरीदारी करते समय सारे विकल्पों पर विचार करके सर्वश्रेष्ठ पेशकश चुनने की बजाय लोगों का रुझान वे वस्तुएं खरीदने पर होता है, जिन पर उनकी निगाह सबसे पहले पड़ती है। इसीलिए उपभोक्ता वस्तुओं के निर्माता अपने प्रोडक्ट प्रमुखता से प्रदर्शित करने पर जोर देते हैं। 'बाय वन गेट वन फ्री' जैसे मार्केटिंग के तरीके उपभोक्ताओं की इसी 'अतार्किकता' को भुनाने के लिए बनाए गए हैं।

उनका शोध जिस दूसरी बात पर जोर देता है वह है डिफाल्ट ऑप्शन का महत्व- यानी ऐसा विकल्प, जो तब अपने आप लागू हो जाएगा, जब आप सक्रिय रूप से कोई अन्य चुनाव न करें। मानव आलसी प्राणी है और प्राय : वह डिफाल्ट ऑप्शन से काम चला लेता है, फिर चाहे विकल्प बेहतर क्यों न हो। उदाहरण के लिए स्वास्थ्य बीमा और पेंशन योजनाओं में शामिल होने का विकल्प हो तो वह न शामिल होने के डिफाल्ट विकल्प को ही चुनेगा। 'एक माह के फ्री ट्रायल' जैसी पेशकश ऐसे ही व्यवहार को भुनाने के लिए है। अमेजन प्राइम और नेटफ्लिक्स जैसी मनोरंजन प्रदान करने वाली कंपनियां प्राय: ऐसे फ्री ऑफर देती हैं, जिनका नवीनीकरण या अवधि विस्तार ट्रायल अवधि खत्म होने के बाद अपने आप हो जाता है। कंपनियां जानती हैं कि ज्यादातर लोग उसे कैंसल करने की जहमत नहीं उठाएंगे।अध्ययन बताते हैं कि ऐसे ऑफर का नतीजा सबस्क्रिप्शन की 80 फीसदी तक ऊंची दरों में होता है! इसके अलावा क्रेडिट कार्ड कंपनियां, बीमा कराने वाले, बैंक, जोखिमभरे उत्पादों के निर्माता, इंटरनेट सेवाएं देने वाले और सॉफ्टवेयर कंपनियां प्राय: बहुत जटिल और आसानी से समझ में न आने वाली शर्तें बनाती हैं। यह सिर्फ देनदारी से बचने के लिए ही नहीं बल्कि इसके पीछे डिफाल्ट ऑप्शन चुनना भी होता है।अपनी ख्यात किताब 'नज' में थैलर और हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के कैस सस्टीन दलील देते हैं कि सज्ञानात्मक यानी इन्द्रियों से मिली सूचनाओं के आधार पर किए पक्षपात को डिफाल्ट के उचित नियमों के जरिये दूर किया जा सकता है। ग्राहक के हितों की रक्षा के लिए निजी कंपनियों के डिफाल्ट नियमों का नियमन किया जा सकता है। सरकारी अधिकारी ऐसे डिफाल्ट का चुनाव कर सकते हैं, जिससे व्यक्तिगत निर्णय प्रक्रिया की दिशा वह हो जाए, जो उन्हें ग्राहक के हित में उचित लगती है।

भारतीय संदर्भ में बीमा अनुबंध (फसल व थर्ड पार्टी बीमा सहित), प्राइवेट लोन के बेहतर डिफाल्ट नियम बनाने की काफी गुंजाइश है। शोध बताते हैं कि यदि लोगों को रिटायरमेंट बाद की योजनाओं जैसे पेंशन फंड आदि के लिए आवेदन करना हो तो बहुत कम लोग ऐसा करते हैं। लेकिन, यदि शामिल न करने के लिए आवेदन करने वालों को छोड़कर हर किसी का नामांकन करने का नियम हो, तो ज्यादातर लोग नामांकन कराएंगे और उसके लिए आवश्यक भुगतान भी करेंगे। इसका मतलब है कि सरकार को निजी क्षेत्र से कहना चाहिए कि वे ऐसी योजनाओं में कर्मचारियों को अपने आप नामांकित करने का नियम रखे।उनका शोध यह भी बताता है कि लोगों का रुझान आम चलन अपनाने का रहता है। जैसे यह पाया गया है कि अपने इलाके के औसत से ज्यादा बिजली-पानी खर्च करने वाले लोगों को उनकी ज्यादा खपत के बारे में बताया जाए तो ऐसे लोगों को व्यवहार सुधारने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। इस तरह की नीतियों के तहत सरकार लोगों को कथित 'सही व्यवहार' की ओर प्रेरित कर पाई है।ऊपर बताए संरक्षणवादी 'लिबर्टेरियन पैटर्नलिस्ट' तरीकों का ब्रिटेन व अमेरिका सहित सभी नीति निर्माताओं ने बहुत स्वागत किया है। कई देशों में तो 'नज यूनिट' स्थापित की गई हैं यानी ऐसी एजेंसियां

जिनका उद्देश्य व्यवहार अर्थशास्त्र से मिली अंतर्दृष्टि का इस्तेमाल कर लोक प्रशासन में सुधार लाना है।इसी के साथ नीति के प्रति थैलर के एप्रोच ने चिंताएं खड़ी की हैं। अकादमिक हलकों में 'लिबर्टेरियन पैटर्नलिस्ट' तरीके की आलोचना की गई है कि यह आमलोगों को अपने हिसाब से ढालने का नया रूप है। यूरोप में कुछ अग्रणी मनोवैज्ञानिकों ने लोगों की मानसिक खामियों की जगह राज्य की मानसिक खामियों को लाने पर सवाल उठाए हैं। नीतिगत दृष्टि से चुनौती यह सुनिश्चित करने की है कि सरकार आमजन व दबे-कुचले लोगों के हितों को बढ़ाने वाली नीति बनाएं। ऐसे में लाख टके का सवाल है : 'नजर' (किसी दिशा में धकेलने वाला यानी सरकार) को सही दिशा में नज (धकेलना) कौन करेगा?

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 16-10-17

किसानी में है कुपोषण की कुंजी

देविंदर शर्मा

ऐसे वक्त में, जब वैश्विक खाद्य भंडार 72.05 करोड़ टन के साथ रिकॉर्ड तेजी से बढ़ रहा है, एक परेशान करने वाली खबर आई है। संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संगठन का आकलन है कि पिछले 15 वर्षों में पहली बार भूख का आंकड़ा बढ़ा है। साल 2015 में जहां दुनिया भर में 77.7 करोड़ लोग भूख के शिकार थे, वहीं 2016 में यह संख्या बढ़कर 81.5 करोड़ पहुंच गई। आज विश्व खाद्य दिवस है, मगर घरेलू मोर्चों पर भी हमें कोई उत्साहित करने वाली तस्वीर नहीं दिख रही। इस साल के वैश्विक भूख सूचकांक पर एक निगाह डाल लीजिए। इसमें भारत तीन पायदान नीचे लुढ़का है और हम उत्तर कोरिया से भी पिछड़ गए हैं। 119 देशों के आंकड़ों को मिलाकर तैयार इस सूचकांक में भारत 100वें स्थान पर है और इसे 'गंभीर श्रेणी' में रखा गया है। रिपोर्ट कहती है कि 'चूंकि दक्षिण एशिया की तीन-चौथाई आबादी भारत में रहती है, इसलिए इस मुल्क में भूख के हालात दक्षिण एशिया की क्षेत्रीय सफलता पर व्यापक असर डालते हैं।'जाहिर है, भूख से लड़ने के मामले में भारत की इस शर्मनाक तस्वीर ने दक्षिण एशिया को इस मोर्चे पर पीछे धकेल दिया है। हालांकि पाकिस्तान को छोड़कर दक्षिण एशिया के तमाम देशों का प्रदर्शन इसमें अच्छा दिख रहा है। सूचकांक में पाकिस्तान जहां 106वें पायदान पर है, तो चीन 29वें, नेपाल 72वें, म्यांमार 77वें, श्रीलंका 84वें और बांग्लादेश 88वें स्थान पर।

एक साल पहले भी भारत इस सूची में 97वें स्थान पर था। तब 118 विकासशील देशों को मिलाकर यह सूचकांक तैयार किया गया था और हम हमेशा की तरह पाकिस्तान को छोड़कर अपने तमाम पड़ोसियों से पीछे थे। 12 साल पहले 2006 में जब पहली बार यह सूची बनी थी, तब भी हमारा स्थान 119 देशों में 97वां था। जाहिर है, 12 साल बाद भी हम जहां थे, वहीं पर खड़े हैं। इस साल जीडीपी विकास दर के कुछ नीचे जाने के दावे किए जा रहे हैं, जिसे सरकार महज तात्कालिक गिरावट बता रही है, मगर इन 12 वर्षों में भारत का जीडीपी औसतन आठ फीसदी रहा है, फिर भी देश में भूख की समस्या बढ़ी है। साफ है, तमाम उतार-चढ़ावों के बावजूद देश में भूख की प्रवृत्ति लगातार बनी हुई है।ज्यादा भूख का मतलब है, ज्यादा कुपोषण। देश में कुपोषण की दर क्या है, इसका अगर अंदाज लगाना हो, तो लंबाई के हिसाब से बच्चों के वजन का आंकड़ा देख लेना चाहिए। आज देश में 21 फीसदी से अधिक बच्चे कुपोषित हैं। दुनिया भर में ऐसे महज तीन देश जिबूती, श्रीलंका और दक्षिण सूडान हैं, जहां 20 फीसदी से अधिक बच्चे कुपोषित हैं। जब किसी देश का

21 फीसदी बचपन कुपोषण से जूझ रहा है, तो किस बुनियाद पर उसके महान आर्थिक भविष्य का दावा किया जा रहा है, यह सोचने का विषय है?

देश की यह बदहाल तस्वीर यहीं नहीं थमती। राष्ट्रीय पोषण निगरानी ब्यूरो हमें एक ऐसी कटु सच्चाई से रूबरू कराता है, जिसे हम शायद ही जानना चाहेंगे। ग्रामीण भारत का खान-पान अब उससे भी कम हो गया है, जैसा 40 वर्ष पहले था। रिपोर्ट के अनुसार, 1975-79 की तुलना में आज औसतन ग्रामीण भारतीय को 500 कैलोरी, 13 ग्राम प्रोटीन, पांच मिलीग्राम आयरन, 250 मिलीग्राम कैल्सियम व करीब 500 मिलीग्राम विटामिन-ए कम मिल रहा है। यह वही ग्रामीण भारत है, जहां देश की लगभग 70 फीसदी आबादी बसती है। अगर वहां खाद्य पदार्थों की मात्रा कम हुई है और वे कुपोषण से जूझ रहे हैं, तो यह खतरे की घंटी है। मगर दुखद है कि इस शर्मनाक स्थिति पर कोई बहस करता नहीं दिखता, मीडिया भी नहीं।इसी तरह, तीन वर्ष से कम उम्र के नौनिहालों को औसतन 80 मिलीलीटर दूध ही रोजाना मिल पाता है, जबकि उन्हें जरूरत 300 मिलीलीटर की है। इन आंकड़ों से अंदाज लगाइए कि आखिर क्यों उस सर्वे में 35 फीसदी ग्रामीण वयस्क कुपोषित पाए गए और 42 फीसदी बच्चे सामान्य से कम वजन के? क्या यह आधी रात को संसद सत्र बुलाने की ठोस वजह नहीं होनी चाहिए थी?

हालांकि ऐसा कुछ करने की बजाय साल 2015 में इस राष्ट्रीय पोषण निगरानी ब्यूरो को ही भंग कर दिया गया, जबकि 1972 में अपने गठन के बाद से यह लगातार काम कर रहा था। अपने यहां जहां हर छह महीने में आर्थिक विकास को मापा जाता है, पोषण संबंधी सर्वे 10 साल में एक बार किए जाते हैं। फिर भी इसके आंकड़े सुखद नहीं आते। ये आंकडे आर्थिक विकास की हमारी गाथा को दागदार बनाते हैं। लगता है, कुपोषण के आंकड़े आर्थिक विकास के अंकगणित की चमक-दमक में कहीं छिपा दिए गए हैं।सही है कि भूख से लड़ना एक जटिल व चुनौतीपूर्ण काम है, मगर यह असंभव भी नहीं है। ऐसा नहीं है कि इसे लेकर सोचा नहीं गया। एक के बाद दूसरे प्रधानमंत्री ने भूख से लड़ने की अपनी नेकनीयती दिखाई है। फिर चाहे वह इंदिरा गांधी हों, जिन्होंने 'गरीबी हटाओ' का नारा दिया, या मनमोहन सिंह, जिन्होंने कुपोषण को 'राष्ट्रीय शर्म' बताया, या फिर मौजूदा प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी, जिन्होंने अपनी सरकार को गरीबों के प्रति समर्पित बताया है, फिर भी अब तक उपयुक्त आर्थिक नीति नहीं बन सकी है। हमारे नौकरशाह दुर्भाग्य से उस कॉरपोरेट सोच में उलझ गए हैं, जो 'ट्रिकल डाउन' सिद्धांत के चश्मे से गरीबी हटाने की बात कहती है। जबकि बड़े औद्योगिक घरानों को लाभ पहुंचाकर आर्थिक विकास का सपना देखने वाला यह मॉडल दुनिया भर में विफल माना जाता है।

गरीबी, भूख और कुपोषण से लड़ाई तब तक नहीं जीती जा सकती, जब तक कि कृषि पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाएगा। एक हालिया अमेरिकी अध्ययन बताता है कि शहरों में इन्फ्रास्ट्रक्चर बनाने पर किए जाने वाले निवेश की तुलना में कृषि में लगाई गई पूंजी गरीबी मिटाने में पांच गुना अधिक प्रभावी होती है। यह वाकई एक उल्लेखनीय नतीजा है, जिसे नजरअंदाज नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि भारतीय अर्थशास्त्री, नीति-निर्माता और नौकरशाह वैचारिक रूप से बाजार के सुधारों के लिए प्रतिबद्ध हैं और कृषि व सामाजिक क्षेत्र में निवेश को जान-बूझकर कम कर रहे हैं। अगर हम चाहते हैं कि 2022 तक देश में कोई भी भूखा न रहे, तो हमें कृषि में सार्वजनिक निवेश को बढ़ावा देकर खेती-बाड़ी को फिर से जिंदा करना चाहिए। सच भी यही है कि कृषि क्षेत्र ही 'सबका साथ, सबका विकास' की संकल्पना साकार कर सकता है।

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 16-10-17

A black mark

India's consistently poor performance on Global Hunger Index should be a matter of urgent concern to country's policymakers

Why does India always score poorly on the Global Hunger Index? That should have been a pressing question for the country's policymakers. The Centre and the states do have several schemes to improve the nutritional status of people in the country. But confronting the country's nutritional problems has never acquired adequate urgency. India has consistently brought up the rear of the hunger index, that was first published in 2006. This year's report shows that the country has slipped three positions from last year — it ties with Djibouti and war-ravaged Rwanda for the 100th rank among 119 nations. The report does mention that India has scaled up its Integrated Child Development Services (ICDS) Scheme and the National Health Mission but also notes that they are yet to achieve adequate coverage.

Published by the International Food Policy Research Institute, Concern Worldwide, an Irish aid agency, and Welthungerhilfe, a German private aid organisation, the Global Hunger Index tracks hunger worldwide. With more than a fifth of the country's children under five suffering from "wasting" — low weight for height —India is among the very few countries that have made no progress, over the past 20 years, in arresting the problem. Child wasting is one of the four indicators in the Global Hunger Index. The report draws on India's National Family Health Survey to show that the proportion of children in the country suffering the problem has increased from 17 per cent in 1998-2002 to 21 per cent in 2012-2016. This is way above the global prevalence — less than 10 per cent of under-five children suffer from wasting. Only three other countries— Djibouti, Sri Lanka, and South Sudan — have a child-wasting rate of over 20 per cent.

Many of India's social welfare schemes — including those related to food security —have been dogged by challenges related to identifying and reaching targeted groups. In the last three years, the government has claimed that it is trying to resolve this conundrum by linking targeted welfare schemes to instruments such as Aadhaar.The continued poor performance in the Global Hunger Index should make the government introspect the shortcomings of this endeavour. The report also carries an important message for the Swachh Bharat Mission (SBM): The project should not lose sight of the links between sanitation and nutrition. Water-borne diseases like diarrhoea, for example, are known to result in poor absorption of nutrients, especially in children under five. The government would do well to take note of the implications of the Global Hunger Index for its welfare schemes.

THE HINDU

Date: 16-10-17

Toxic farming

India needs stronger regulation of insecticide sale and use to protect farmers

Reports of farmers dying from pesticide exposure in Maharashtra's cotton belt in Yavatmal make it evident that the government's efforts to regulate toxic chemicals used in agriculture have miserably failed. It is natural for cotton growers under pressure to protect their investments to rely on greater volumes of insecticides in the face of severe pest attacks. It appears many of them have suffered high levels of exposure to the poisons, leading to their death. The fact that they had to rely mainly on the advice of unscrupulous agents and commercial outlets for pesticides, rather than on agricultural extension officers, shows gross irresponsibility on the part of the government. But the problem runs deeper. The system of regulation of insecticides in India is obsolete, and even the feeble efforts at reform initiated by the UPA government have fallen by the wayside. A new Pesticides Management Bill introduced in 2008 was studied by the Parliamentary Standing Committee, but it is still pending. At the same time, there is worrying evidence that a large quantum of pesticides sold to farmers today is spurious, and such fakes are enjoying a higher growth rate than the genuine products. Clearly, there is a need for a high-level inquiry into the nature of pesticides used across the country, and the failure of the regulatory system. This should be similar to the 2003 Joint Parliamentary Committee that looked into harmful chemical residues in beverages and recommended the setting of tolerance limits.

It is incongruous that the Centre has failed to grasp the need for reform in the regulation of pesticides, when it is focussed on growth in both agricultural production and exports. Agricultural products from India, including fruits and vegetables, have been subjected to import restrictions internationally for failing to comply with safety norms. It is imperative that a Central Pesticides Board be formed to advise on use and disposal of pesticides on sound lines, as envisaged under the law proposed in 2008. This will strengthen oversight of registration, distribution and sale of toxic chemicals. There can be no delay in updating the outmoded Insecticides Act of 1968. A stronger law will eliminate the weaknesses in the current rules that govern enforcement and introduce penalties where there are none. Aligning the new pesticides regulatory framework with food safety laws and products used in health care will make it broad-based. After the recent deaths, Maharashtra officials have hinted at the loss of efficacy of some hybrids of genetically modified cotton in warding off pests to explain the growth and intensity of pesticide use. The responsible course would be to make a proper assessment of the causes. It is also an irony that the Centre has failed to use its vast communication infrastructure, including DD Kisan, the satellite television channel from Doordarshan dedicated to agriculture, to address distressed farmers. A forward-looking farm policy would minimise the use of toxic chemicals, and encourage organic methods where they are efficacious. This will benefit both farmer and consumer.

Date: 16-10-17

The case for a public health cadre

A service, on the lines of the IAS, will improve India's health-care delivery

Dharmesh Kumar Lal

The idea of having dedicated personnel for public health management goes back to 1959 when advocated by the Mudaliar Committee, which observed that "personnel dealing with problems of health and welfare should have a comprehensive and wide outlook and rich experience of administration at the state level".It was echoed too, in 1973, by the Kartar Singh Committee, which said that "doctors with no formal training in infectious disease control, surveillance systems, data management, community health related problems, and lacking in leadership and communication skills, with no exposure to rural environments and their social dynamics, nor having been trained to manage a facility or draw up budget estimates, were ill-equipped and misfits to work in public facilities".

It was also felt that "the medical education that [a doctor] receives has hardly any relevance to the conditions in which he would be required to work, either in the state-run health programme or even in private practice… since medical education is based almost entirely on the western model, and where he is more suitable for the conditions that prevail in western countries than in his own."The 12th Five Year Plan and the National Health Policy, 2017 have also strongly advocated establishing a public health management cadre to improve the quality of health services by having dedicated, trained and exclusive personnel to run public health facilities.

Ground zero

Tamil Nadu took the lead in this and there has been a discernible difference in the way health delivery is done there vis-à-vis Uttar Pradesh. For example, in U.P., even in a tertiary hospital, according to media reports, simple record keeping of oxygen cylinders is not followed.Recently, Odisha, with the support of the Public Health Foundation of India, has notified the establishment of a public health cadre in the hope of ensuring vast improvement in the delivery of health care. Despite the creation of a public health cadre finding mention in various reports and Plan documents, such a service at the all-India level has still to translate itself into reality any time soon due to a series of complex factors.

Why have such a cadre? The idea is on the lines of the civil service — of having dedicated, professionally trained personnel to address the specific and complex needs of the Indian health-care delivery system which is grappling with issues such as a lack of standardisation, financial management, appropriate health functionaries and competencies including technical expertise, logistics management, and social determinants of health and leadership. Doctors with clinical qualifications and even with vast experience are unable to address all these challenges, thereby hampering the quality of our public health-care system. Now, doctors recruited by the States and the Ministry of Health and Family Welfare (through the Union Public Service Commission) are to implement multiple, complex and large public health programmes besides applying fundamental management techniques. In most places, this is neither structured nor of any quality. In the absence of a public health cadre in most States, even an anaesthetist or an ophthalmologist with hardly any public health knowledge and its principles is required to implement reproductive and child health or a malaria control programme. Further, at the Ministry level,

the highest post may be held by a person with no formal training in the principles of public health to guide and advise the country on public health issues.

With a public health cadre in place, we will have personnel who can apply the principles of public health management to avoid mistakes such as one that led to the tragedy in Uttar Pradesh as well as deliver quality services. This will definitely improve the efficiency and effectiveness of the Indian health system. With quality and a scientific implementation of public health programmes, the poor will also stand to benefit as this will reduce their out-of-pocket expenditure and dependence on prohibitively expensive private health care. In the process, we will also be saving the precious resources of specialists from other branches by deploying them in areas where they are definitely needed.

The way forward

Such an exclusive department of public health at both the levels of the Ministry and the States will help in developing the recruitment, training, implementation and monitoring of public health management cadre. Doctors recruited under this cadre may be trained in public health management on the lines of the civil service with compulsory posting for two-three years at public health facilities. Filling the post of director general in the Health Ministry from this cadre with similar arrangements at the State level including the posts of mission directors will go a long way in improving planning and providing much-needed public health leadership. Financial support for establishing the cadre is also to be provisioned by the Central government under the Health Ministry's budget.Lastly, another benefit will be the freeing up of bureaucrats and their utilisation in other much needed places.